Himalayan J. Soc. Sci. & Humanities ISSN: 0975-9891
Vol. 13, (2018) 35-43

औपनिवेशिक प्रशासन के अधीन उत्तराखण्ड के ग्रामीण कृषकों के अर्थतंत्र, संसाधनों के दोहन और उत्पादन के स्वरूप में परिवर्तन

सुरेन्द्र सिंह बिष्ट

इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल)।

*Corresponding Author Email: surendra100singh@gmail.com

Received: 11.09.2018; Revised: 14.11.2018; Accepted: 21.12.2018.
©Society for Himalayan Action Research and Development

Abstract: प्रस्तुत शोध पत्र में विगत दो शताब्दियों में उत्तराखण्ड के वनों, भूमि एवं अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर स्थानीय ग्रामीणों के हस्तक्षेप के प्रभाव तथा ब्रिटिश प्रशासनिक तंत्र (1815-1947) के अधीन उत्तराखण्ड के प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों के दोहन शोषण, उपभोग तथा साम्राज्यवादी हितों को पोषित करने हेतु बनाई गई नीतियों के परिणामस्वरूप परम्परागत अर्थ तंत्र और संसाधनों के दोहन के स्वरूप तथा परिवर्तनों को रेखांकित किया गया है।

Keywords: उत्तराखण्ड, ग्रामीण कृषक, अर्थतंत्र, संसाधन, दोहन, स्वरूप परिवर्तन

उत्तराखण्ड में अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित होने के बाद यह क्षेत्र दो भिन्न प्रशासनिक इकाइयों ब्रिटिश कुमायूँ गढ़वाल (अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा शासित) तथा टिहरी रियासत (स्थानीय राजा द्वारा शासित) में विभाजित हो गया। ब्रिटिश काल से ग्रामीण सीमाओं के प्रचलन से पूर्व क्षेत्रीय सीमाओं का अधिक प्रचलन था। एक विशिष्ट भौगोलिक सांस्कृतिक क्षेत्र जिसके भीतर कई ग्राम हो सकते थे परस्पर प्राकृतिक सामाजिक और सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्धों के आधार पर एक क्षेत्रीय इकाई का निर्माण करते थे। वे परस्पर चारागाह जंगलों के उत्पाद और शिकार का सामूहिक रूप से उपभोग करते थे। राजतंत्र के अधीन ग्रामीणों को खेती के विस्तार के किए प्रोत्साहित किया जाता था। इसे नयावाद कहा जाता था। यह नयावाद जमीन एक पीढ़ी तक लगानमुक्त रहती थी। नए राजा के शासनकाल में ही इस पर लगान लगता था। इस प्रकार नयावाद जमीन लगान मुक्त होने के साथ-साथ अधिक उपजाऊ होती थी। इस लोभ में उत्तराखण्ड के किसान अपने गांवों से दूर-दूर तक जंगलों में खेती के लिए प्रवेश कर गए थे। नयावाद के साथ ही झूम कृषि व्यवस्था जुड़ी हुई थी। किसान छान और खरक बनाकर एक उपग्रह

परिवार का निर्माण भी करते थे। इस प्रकार यह व्यवस्था उत्पादन बढाने की एक पद्धति भी थी। उत्तराखण्ड में आज भी घने जंगलों के बीच मीलों तक खेतों के अवशेष देखने को मिलते हैं। ये खेत पूर्व ब्रिटिश काल में उत्तराखण्ड के उद्यमी पुरुषों द्वारा कठिन परिश्रम से बनाए गए हैं। इस समयावधि में जनसंख्या के कम दबाव व विरलता के उपरान्त भी कृषि भूमि का विस्तार हुआ था। दूसरी ओर यह कार्य व्यवहार (पद्धति) वनों को नुकसान पहुंचाने का बड़ा कारण भी था। इस समय उत्तराखण्ड का परम्परागत आर्थिक आधार वन, पालतू पशु और कृषि के घनिष्ठ सम्बन्धों पर आधारित था। यहाँ की अर्थव्यवस्था में आखेटक, संग्राहक, पशुपालक और कृषक चारों तत्व एक साथ विद्यमान थे। मनुष्य की भूख और संसाधनों की उपलब्धता के मध्य सामञ्जस्य था। राजतंत्र और सामन्तवाद यहाँ के आदिम अर्थतंत्र और ग्रामीणीकरण के अन्तर्सम्बन्धों के भीतर नहीं घुस पाया था। राज्य के लिए भूमि पर आरोपित किया जाने वाला लगान तथा वनोत्पादों पर लगाया जाने वाला कर राजस्व का सबसे बड़ा स्रोत था।

प्रकृति और मानव के बीच के सहज सम्बन्ध हिमालय के परिप्रेक्ष्य में आंग्ल शासन की स्थापना के उपरान्त परिवर्तित होने लगे। इन परिवर्तनों ने भू-स्वामित्व के स्वरूप, उत्पादन और वितरण की संरचना में आधारभूत परिवर्तन किये। पश्चिम के समाज में गांवों की परिकल्पना व भारतीय समाज में गांवों की परिकल्पना आधारभूत रूप से अलग थी। पश्चिमी जीवन दृष्टि में प्रकृति, पशु और मनुष्य तीनों के अलग-अलग कार्यक्षेत्र और पहचान है। वहाँ एक वर्ग दूसरे के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। किन्तु भारतीय वैचारिक परिदृश्य में प्रकृति पशु और मनुष्य तीनों सहअस्तित्व व साहचर्य के साथ रह सकते थे। ब्रिटिश शासनकाल में प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता और दोहन का अनुपात परिवर्तित हुआ। गांव और जंगल की सीमा निर्धारित की गई। नये मसौदे, कानून और नियम बनाए गए। वनों और चारागाहों को चिह्नित किया गया। भूमि की नापजोख की गई और भूमि की गुणवत्ता के अनुसार उस पर लगान तय किया गया। इसी प्रकार भवनों को भी उनकी उपादेयता और गुणवत्ता के आधार पर श्रेणीबद्ध किया गया। 19वीं शताब्दी के मध्य में किसानों को जमीन के ऊपर वैयक्तिक स्वामित्व भी प्रदान किया गया। इतिहास में पहली बार किसान भू-स्वामित्व का अधिकारी बना। ब्रिटिश शासन से पूर्व भू-स्वामित्व मिला किन्तु जंगलों के प्रति कृषकों और गांवों के स्वामित्व और अधिकारों

का हनन हुआ। इन परिवर्तनों से कृषकीय भू-विस्तार और भूमि की उर्वरता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इस प्रकार हिमालयी ग्रामीण क्षेत्रों में यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। अब इतिहास में पहली बार वन संसाधनों का उपभोग ग्रामीण उन्मुक्त रूप से नहीं कर सकते थे। इन परिवर्तनों से एक ओर यहाँ स्थानीय पारिस्थितिकी में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ वहीं दूसरी ओर नवीन सामाजिक तनावों का भी जन्म हुआ। इस शोध पत्र हेतु सूचना का प्रमुख आधार द्वितीयक स्रोतों के रूप में उपलब्ध सरकारी दस्तावेजों, जिनमें गजेटियर्स, भू-राजस्व व वन राजस्व अभिलेख तथा शासकीय प्रतिवेदन प्रमुख हैं, को बनाया गया है तथा विषय को लेकर अब तक के अध्ययनों का पुनरावलोकन कर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आथिक स्थितियों का विश्लेषण किया गया है।

इतिहास – गढ़वाल राज्य जिसकी राजधानी श्रीनगर थी, को एकीकृत करने का श्रेत्र स्थानीय पंवार वंश के राजा अजयपाल को दिया जाता है। उसने गढ़वाल के गढ़ों को जीतकर सम्पूर्ण गढ़वाल में पंवार वंश का शासन संगठित किया (नेगी, 1988)। कुमायूँ का एकीकरण राजा रुद्रचन्द ने किया तथा सम्पूर्ण कुमायूँ में चन्द वंश का शासन स्थापित किया (रावत, 1987)। जिसकी राजधानी अलमोड़ा थी। उत्तराखण्ड में गढ़वाल व कुमायूँ दो अलग-अलग राज्यों का उदय एक महत्वपूर्ण युग की शुरुआत थी। उसके बाद उत्तराखण्ड में उन सामाजिक-राजनीतिक तथा सांस्कृतिक तत्वों का विकास हुआ जिसने आधुनिक उत्तरखण्ड के सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप का निर्धारण किया। लगातार आक्रमणों के परिणास्वरूप 1790 में कुमायूँ तथा 1804 में गढ़वाल पर गोरखों ने विजय प्राप्त की। ईस्ट इंडिया कम्पनी और गोरखाओं के मध्य 1815 में युद्ध हुआ। गोरखाओं पर विजय प्राप्त कर कम्पनी ने अपने भारतीय साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करते हुए 1815 में गढ़वाल व कुमायूँ को कम्पनी शासन के अधीन कर दिया। मार्च 1815 में सिगौली की सन्धि से एंग्लो-गोरखा प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हो गई। गढ़वाल को दो हिस्सों में विभाजित कर दिया गया। इसके पश्चिमी हिस्से को टिहरी रियासत कहा गया। गढ़वाल राज्य के पूर्वी भाग और कुमायूँ पर कम्पनी ने अपना शासन स्थापित किया। उत्तराखण्ड के इस भू-भाग को कुमायूँ मण्डल नाम दिया गया और इसके प्रशासनिक शीर्ष पर कमिश्नर की नियुक्ति की गई।

उत्तराखण्ड में अंग्रेजी शासन स्थापित होने से पूर्व यहाँ का ग्रामीण और कृषक जंगल के ऊपर अपने परम्परागत वनाधिकारों का बिना किसी बाधा के उन्मुक्त रूप से करता था। ग्रामीण कृषक राज्य को पालतू पशुओं की चराई का कर दिया करता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न दुग्ध उत्पाद तथा हस्तशिल्प से बनाई गई वस्तुएं जैसे टोकरी, लकड़ी के बर्तन, चटाई आदि भी कर के रूप में राजा को दी जाती थी। व्यापक रूप से बनों का अतिशय दोहन उन क्षेत्रों में होता था जहाँ पर लोहे की खानों के आसपास लोहा पिघलाने के लिए बड़ी मात्रा में लकड़ी की आवश्यकता होती थी। जो वन राजधानी के आसपास होते थे वे भी तेजी से विरल हो गए थे क्योंकि यहाँ पर ग्रामीणों को अनिवार्य 'पूला' प्रथा कार्यव्यवहार में लानी होती थी जिसके अनुसार प्रतिदिन दुग्ध उत्पादों को राजप्रासाद में भेजना होता था। इस व्यवस्था के चलते ग्रामीण राजधानी के पास-पड़ोस के जंगलों में चक्रीय क्रम में बड़ी संख्या में दुधारू पशुओं को लाने के लिए बाध्य थे (सकलानी, 1987)। अतिशय चरान-चुगान पशुओं के लिए गौशाला (छान) निर्माण, राजधानी और कृषकों के लिए जलावन की लकड़ी की आवश्यकता के कारण पहले श्रीनगर और बाद में टिहरी के आसपास के वनों को काफी क्षति पहुंची। यह प्रथा टिहरी रियासत में 1880 तक यथावत चलती रही (सकलानी, 1987)। राज परिवार के सदस्य अपनी रसोई के लिए हजारों किलो जलावन लकड़ी के हकदार थे जिनकी आवश्यकता की पूर्ति राजधानी के पास-पड़ोस के वनों से की जाती थी। राजदरबारियों के लए भी लकड़ी की अत्यधिक मात्रा में लकड़ी की आपूर्ति करनी होती थी। राजकीय कर के रूप में भी दूरस्थ स्थानों से भी राजधानी में लकड़ी की आपूर्ति करनी होती थी। दूसरी प्रथा जिस कारण वनों को नुकसान पहुंचा वह था लकड़ी के विशाल शहतीरों को घरों के निर्माण हेतु प्रयोग मं लाना (AAR, 1930)। कहा जाता है कि यमुना घाटी में एक घर के निर्माण हेतु सैकड़ों देवदार के वृक्षों का उपयोग किया जाता था। वनों के दोहन की यह प्रथा तब तक प्रचलन में रही जब तक कि 19वीं शताब्दी के मध्य में वनों के वाणिज्यिक महत्व का संज्ञान नहीं हुआ था। अंग्रेजी शासन से पहले भी कुछ निश्चित पेड़ों की छालों, औषधीय महत्व की वनस्पतियों तथा पशुओं के उपयोगी अंगों को एकत्रित करने के ठेके राज्य द्वारा पाद श्रेणी के वनों में दिये जाते थे। पूर्व ब्रिटिश काल में ग्रामीण क्षेत्रों में वन विनाश का सबसे बड़ा कारण झूम खेती को माना जाता है। झूम कृषि को पहाड़ों में कुरील, क्वील, कटील या खिल नाम से जाना जाता था। इस

प्रकार की खेती को पहाड़ी कृषक वर्ष के खाली महीनों में किया करता था। इस प्रकार की खेती जंगलों को काटकर की जाती थी और एक फसल प्राप्त करने के उपरान्त उसे खाली छोड़ दिया जाता था और कुछ वर्षों के उपरान्त उस स्थान पर पुनः कृषि कार्य किया जाता था। इस प्रकार की खेती के लिए चक्रीय क्रम में कुछ वर्षों के उपरान्त खेती की जाती थी (पौ, 1896)। दसवें भू-प्रबन्धन के दौरान भू-प्रबन्धन अधिकारी पौ ने सूचित किया था कि मीलों कृषि योग्य भूमि को किसानों द्वारा इस प्रकार की झूम प्रथा के कारण छोड़ दिया गया था। इस प्रकार की खेती को छोड़ने के पीछे भूमि की उर्वरता में कमी, धार्मिक अथवा दैवीय प्रतिबन्ध और पानी की अपर्याप्त मात्रा मुख्य कारण थे। प्रारम्भिक काल से ही राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमि पर लगाया जाने वाला कर था इस कारण राज्य हमेशा वन क्षेत्रों में कृषि भूमि के विस्तार को प्रोत्साहित करता था। (टकर, 1983)। इस प्रकार की भूमि को नयावाद कहा जाता था। यह नयावाद भूमि एक पीढ़ी तक लगान मुक्त रहती थी और नए राय के शासनकाल में ही इस पर लगान लगाया जाता था। एक ऐसे समाज में जहाँ पर कि कुछ उत्पादन का 50 से 60 प्रतिशत तक राजस्व ले लिया जाता था। कृषकों के लिए इस प्रकार की खेती लाभदायक थ। इस कारण कृषकों की प्रत्येक पीढ़ी ने नयावाद भूमि को लाभ की खेती के रूप में देखा। जिस कारण से वनों को अधिकाधिक हानि पहुंची। क्योंकि नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के नयावाद क्षेत्र को छोड़कर नए जंगली भू-भाग पर कृषि कार्य को बढ़ावा देती थी (पौ, 1896)। वन सम्बन्ध के वाणिज्यीय विदोहन के प्रारम्भ हो जाने के बाद वनों के लाभ हेतु संरक्षण के लिए नयावाद प्रथा को त्याग दिए जाने की वकालत प्रारम्भ हो गई और वनों के संरक्षण के लिए इस प्रथा को हतोत्साहित किया गया। जंगलों के ऊपर आंग्ल सरकार द्वारा आरक्षण से ग्रामीण कृषकों की आर्थिक उन्मुक्तता पर रोक लगी। इस प्रकार की रोक ने ग्रामीण क्षेत्रों में उन्नीसवीं शताब्दी से नए तनावों को जन्म fदया।

अंग्रेजी उपनिवेशवाद – संसाधनों का का शोषण और आरक्षण

ब्रिटिश कुमायूँ के पहले प्रशासक ट्रेल (1820) ने लिखा – गाँवों में मकान भी जंगलों से घिरे हुए हैं। पहली दृष्टि में यह स्पष्ट नहीं होता कि गांवों की सीमा कहां से प्रारम्भ होती है और जंगल कहां से प्रारम्भ होते हैं (एटकिंसन, 1886)। संभवतः जमीन और जोत की हदबंदी का प्रारम्भ केवल उस जमीन तक सीमित था जो सामन्तीय व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि लगान के लिए पोषित थी। गांव की

जोत की जमीन और जंगल के बीच हदबंदी की अवधारणा भूमि लगान बन्दोबस्त तथा वन बन्दोबस्त के बाद ही यहाँ के समाज में प्रविष्ट हुई और गांव तथा जंगल की सीमाएं निर्धारित की गई (वैबर, 1902)। हिमालयी क्षेत्रों में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन था। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गाँव की सीमाएं और खेती की जमीन के सम्बन्ध पश्चिमी पूंजीवादी 'कान्ट्रेक्ट' अवधारणा के अनुरूप रूपान्तरित किए गए। गांवों को नक्शों में बांधा गया, उनकी सीमाएं अंकित की गईं। जंगलों और चारागाहों को रेखांकित किया गया। खेती की तरह जंगलों को भी उनकी गुणवत्ता तथा आर्थिक उपादेयता के आधार पर श्रेणीबद्ध किया गया (पियर्सन, 1869)। उत्तराखण्ड के इतिहास में पहली बार जंगल के ऊपर राज्य ने अपना वैधानिक अधिकार आरोपित किया। अब जंगल आर्थिक शोषण के लिए सरकार द्वारा आरक्षित हो गए। पूर्ववर्ती शासन के अन्तर्गत भी जंगल राज्य की सम्पत्ति थी किन्तु इसका वास्तविक उपभोग बिना रोक टोक के ग्रामीणों द्वारा किया जाता था। अब इतिहास में पहली बार वन संसाधनों का उपभोग ग्रामीण स्वच्छन्दता से नहीं कर सकते थे। जंगलों के निर्द्वन्द उपयोग के ऊपर कानूनी अंकुश लगा। एक व्यापक प्रशासनिक तंत्र का गठन किया गया (ओस्मस्टन, 1921) जो ग्रामीणों के द्वारा जंगलों के संसाधनों के उपयोग पर अंकुश लगाती थी और वनों से सम्बन्धित नियमों और कानूनों की अवमानना करने पर ग्रामीणों को सजा प्रदान करती थी। वन कानूनों में स्पष्ट किया गया कि वनों पर निर्भर ग्रामीणों को सीमित मात्रा में ईधन, इमारती तथा कृषि के लिए लकड़ी उपलब्ध करायी जाएगी। दूसरी ओर उत्तराखण्ड के वनों का निर्बाध दोहन साम्राज्यवादी हितों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया जाता रहा। भारतीय वन व्यवस्था के इतिहास में रेलवे का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्नीसवीं शदी के उत्तरार्ध में साम्राज्य के विभिन्न हिस्सों को जोड़ने के लिए रेल पटरियां तेजी से बिछाई जाने लगी। रेल पटरियां बिछाने के लिए स्लीपरों की भारी मांग हो गई। इन मांगों की पूर्ति के लिए उत्तराखण्ड के तराई-भाबर क्षेत्रों के वनों को बेरहमी से काटा गया। साथ ही प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों का भी वनों के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वनों को अत्यधिक नुकसान पहुंचाया गया (अजय रावत, 1991)। अंग्रेजी शासन से पूर्व सामन्तीय व्यवस्था में केवल भूमि उसके उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित कानूनों को तोड़ने पर ग्रामीण को सजा थी किन्तु ब्रिटिश काल में उसी प्रकार के जुर्म और सजाओं की व्यवस्था जंगलों के सम्बन्ध म् भी की जाने

लगी। वन विभाग और ग्रामीणों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता अब आम हो गई (मैक नायर, 1907)। जंगल के भीतर खेती करने की स्वाधीनता के ऊपर अंकुश लगने से कृषकों को गांव के भीतर ही खेती करने के लिए बाध्य होना पड़ा। सीमित क्षेत्र में खेती करने से और एक ही खेत को वर्षों तक वर्ष में दो बार उपयोग करने के कारण उसकी गुणवत्ता में भी गिरावट आई। खेती का विस्तार रुकने के कारण बढ़ा हुआ परिवार इसी भूमि का बंटवारा करने को बाध्य हुआ। कृषि से जुड़े हुए लाभ कम होते जले गए। कृषि के लिए सिंचित-असिंचित इंच-इंच भूमि पर लगान पड़ने लगा। जैसे-जैसे खेतों का बंटवारा बढ़ा वैसे-वैसे खेत की मेढ़ों पर उखड़ और सेरों के पानी पर और कूलों के लिए लड़ाइयां होने लगी जिससे नए सामाजिक तनाव सामने आने लगे। उद्यमी और पुरुषार्थी किसान नई छान बनाकर बनाकर नए गांव बसाने, अपने लिए नए खेत बनाने के अवसरों से वंचित हो गया (सकलानी, 1987)।

पर्वतों के पुरुष हल लगाने, गूल बनाने, पुश्ता लगाने जैसे शारीरिक रूप से श्रमसाध्य और शक्तिशाली कार्य परम्परागत रूप से करते आ रहे थे। खाली महीनों में यह झूम तथा क्वील करील से खेत तैयार करता था, सामूहिक शिकार करता था, खाद्य संग्रहण करता था, नई छान तथा मकान बनाने के लिए वह पत्थर और पठाल निकालने का काम करता था। किन्तु अंग्रेजी शासन द्वारा वनों पर अंकुश लगाए जाने से इन सारे कार्यों में रुकावट आई। इस प्रकार पुरुष के दैनिक जीवन के कार्यों और आर्थिक प्रणाली पर रुकावट आई। इस प्रकार पुरुषों के दैनिक जीवन के कार्यों और आर्थिक प्रणाली पर रुकावट लगने से उसके पास अधिक खाली समय बचने लगा। औपनिवेशिक तंत्र द्वारा आरोपित इस नई व्यवस्था में पुरुषार्थी पुरुष की उद्यमिता पर रोक लग गई (गढ़वाल समाचार, 1919)।

इसके ठीक विपरीत पर्वतीय स्त्री की सभी सामाजिक-आर्थिक गतिविधियां जैसे पानी लाना, घास काटना, घर के कामकाज निपटाना न केवल यथावत बने रहे बल्कि कालांतर में पुरुषों के बाह्य पलायन से निरन्तर बढ़ते चले गए। संभवतः एक सामान्य पर्यवेक्षक को पर्वतीय क्षेत्र में पुरुष सामान्यतः खाली बैठा हुआ देखने को मिला और स्त्रियां कमरतोड़ मेहनत करती हुई दिखाई दी। भूमि विस्तार पर रोक लगने से जनसंख्या वृद्धि के पास पहाड़ी गांवों में धीरे-धीरे असिंचित भूमि पर दबाव बढ़ने लगा। इन दबावों ने कालान्तर में उद्यमी पुरुषों के लिए बाह्य पलायन की भूमिका तैयार की। भूमि पर दबाव

के करण संतुष्टि का स्तर गिरने लगा और उद्यमी के लिए कृषि का आकर्षण घटने लगा। अब कृषि केवल उनकी मजबूरी थी जो कहीं नहीं जा सकते थे तथा कुछ और करने में सक्षम नहीं थे।

कुमायूँ कमिश्नरी के पड़ोस में टिहरी गढ़वाल की रियासत के जंगलों में उपनिवेशवाद के प्रवेश के बाद परम्परागत सामाजिक आर्थिक ढाँचे में नए तनाव सामने आने लगे। ब्रिटिश कुमायूँ में कृषकों को भू-स्वामित्व प्राप्त था किन्तु रियासत में कृषकों को भू-स्वामित्व प्राप्त नहीं थी। यहाँ की भूमि पर राजा का एकाधिकार था। रियासत के राजा ने जब व्यापारिक उद्देश्य से जंगलों को आरक्षित किया वहाँ किसानों ने वनों और खेती की हदबन्दी के विरोध में जनआन्दोलन (ढण्ढक) किया जो कि काफी उग्र थे (सकलानी, 1987; पाठक, 1980)। उत्तराखण्ड की जनसंख्या का एक छोटा सा वर्ग जो शारीरिक श्रम व कृषि कार्य को हेय समझता था जीवन-यापन के लिए औपनिवेशिक सत्ता के साथ सहभागी बना। इस वर्ग ने शिक्षा प्राप्ति के प्रयास आरम्भ किए और अंग्रेजी प्रसान में अपने लिए स्थान बनाया। समाज के इसी वर्ग ने स्वाधीनता संघर्ष और सामाजिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी वर्ग ने भारत के उभरते शिक्षित वर्ग के साथ स्वयं को जोड़ा।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था से उत्पन्न तनावों से युवा कृषकों को एक अवसर सेना में भर्ती होने के रूप में मिला। अब सीमित अवसरों के सामूहिक प्रभाव के कारण पर्वतीय किसान सिपाही बनने के लिए आगे आया। अंग्रेजों ने यहां की गरीबी और अशिक्षा को अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए उपयोग किया। ब्रिटिश औपनिवेशिक तंत्र ने जो भी अवसर प्रदान किए उसका पूरा लाभ यहां के सभी सामाजिक वर्गों ने उटाया। अवसर प्राप्त होते ही उत्तराखण्ड के सिपाही ने अपने पराक्रम और शौर्य से पूरी दुनिया में सम्मान प्राप्त किया। तमाम कठिनाइयों के बावजूद पर्वतीय किसानों का अपनी खेती से गहरा सम्बन्ध रहा। यहाँ का किसान अंग्रेजों की चाकरी करने से कतराता था। अंग्रेज प्रसासकों की शिकायत रहती थी कि यहाँ का निवासी मजदूरी करने से कतराता है। दूसरी ओर संवेदनशील अंग्रेजों का दृष्टिकोण था कि यहाँ के लोग निजी कार्य के बदले मजदूरी नहीं करना चाहते। उसे दास मनोवृत्ति स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार अंग्रेजी सासन काल के लगभग डेढ सौ वर्षों में उत्तराखण्ड के ग्रामीण कृषकों की परम्परागत जीवन पद्धति और उत्पादन का स्वरूप परिवर्तित हुआ।

सन्दर्भ

एटिकिंसन, ई.टी. (1886). द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज, भाग 3, ट्रान्समीडिया, श्रीनगर गढ़वाल (रिप्रिन्ट 2014)।

ओस्मास्टन, ए.ई. (1921). वर्किंग प्लान फॉर द नॉर्थ गढ़वाल फॉरेस्ट डिवीजन 1921-22 द 1930-31।

टकर, आर.पी. (1983). द ब्रिटिश कॉलोनियल सिस्टम एण्ड फॉरेस्ट्स ऑफ वेस्टर्न हिमालयाज।

ट्रेल, जी.डब्ल्यू (1820). स्टेटिस्टिकल स्केचेज ऑफ कुमाऊँ। एशियाटिक रिसर्चेज, इलाहबाद।

नेगी, एस.एस. (1988). मध्य हिमालय का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, दिल्ली।

पाठक, एस. (1980). उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा (1815-1949)। पी.एचडी थीसिस, कुमाऊं यूनिवर्सिटी, नैनीताल।

पियर्सन, एम.जी.ई. (1869) रिपोर्ट ऑन फॉरेस्ट ऑफ गढ़वाल एण्ड कुमाऊँ।

पौ, ई.के. (1896). रिपोर्ट ऑन द टेन्थ सेटलमेन्ट ऑफ गढ़वाल डिस्ट्रिक्ट।

मैक नायर, डी.सी. (1907). नोट ऑन फॉरेस्ट एडमिनिस्ट्रेशन फॉर माइ सक्सेसर गढ़वाल, यू.पी., इण्डिया।

रावत, ए.एस. (1987). गढ़वाल हिमालय – अ हिस्टोरिकल सर्वे (1815-1947), इण्डस, नई दिल्ली।

रावत, ए.एस. (1991). हिस्ट्री ऑफ फारेस्ट्री इन इण्डिया।

सकलानी अतुल (1987). द हिस्ट्री ऑफ हिमालयन प्रिन्स्ली स्टेट : चेंज कन्फ्लिक्ट्स एण्ड अवेकनिंग।

*****